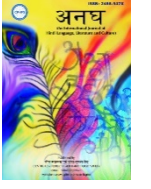




अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



पुस्तक संस्कृति पर गहराता संकट

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

सेवानिवृत्त प्रोफेसर,

भारतीय भाषा केंद्र,

भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पुस्तकें केवल साक्षर लोग पढ़ सकते हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने यह संभव बनाया कि निरक्षर लोग पर्दे पर चित्रों के माध्यम से जीवन की सभी गतिविधियों को देखकर आँख से देखते हुए, दृश्यों द्वारा वास्तविकताओं को हृदयंगम कर सकें व जीवन की पुस्तक के समीप आ सकें। वैज्ञानिक उपक्रमों ने ही श्रव्य माध्यम से सूचना देना या सुनाना और श्रव्य माध्यम से ही गीत, कविता, कहानी और अन्य गद्य विधाओं में जो भी संभव होता है उसे सुनाने की नई परंपरा का परिचालन हुआ। हम देखते हैं कि समूची बीसवीं शताब्दी रेडियो के द्वारा तत्काल सूचनाएँ पाने की तारकत से परिपुष्ट हुई। भारत में रेडियो माध्यम बहुत लोकप्रिय रहा है। उसने भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपाकारों को जन सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। याद करें अद्भुत संगीत सम्मिलनों की आयोजना को रेडियो ने संभव बनाया था। संगीत की उच्चस्तरीय वाद्य एवं गायन शैलियों का प्रसारण आकाशवाणी का प्रतिष्ठित कार्यक्रम रहा है। रेडियो पर ही अद्भुत नाटकों का प्रस्तुतिकरण हुआ और हम पाते हैं कि न सिर्फ उच्चकोटि के संगीतज्ञ रेडियो से जुड़े बल्कि नाटककार, कथाकार, कवि और संस्कृति के अन्य उपांगों के श्रेष्ठ सृजेता भी उसका अंग बने। यहाँ तक कि भारत के श्रेष्ठ कवि और कथाकार उसका अभिन्न अंग बने। इस प्रगति ने कहीं भी ऐसा अनुभव विकसित नहीं होने दिया कि 'अक्षर' अब समाप्त हो रहा है। परंतु समानान्तर विकास के रूप में दृश्य माध्यमों के विकास की तुलनात्मक स्थिति का आकलन करें तो लगता है कि उसने 'अक्षर' की बजाय 'दृश्य' और वह भी दिखाये जाने वाले दृश्य को महत्वपूर्ण बनाना आरंभ किया। शायद इसी प्रवृत्ति के चलते दिखाई देने वाले 'व्यक्ति' महत्वपूर्ण होते गए और एक समय आया कि हम 'अभिनेता' को सामान्य मनुष्यों से अधिक महत्व देने लगे। तब भी यह भाव स्पष्ट रूप से सामने नहीं आया कि ऐसा होना मुद्रित शब्द के लिए चुनौती बन रहा है। पर आज चुनौती एकदम स्पष्ट है। तत्काल पर विश्वास के भी बहुत से कारण हैं। जीवन पैली के कारण जो भागम-भाग मनुष्य जाति के हिस्से आई है उसके प्रभाव के क्षेत्र हैं -- रोजगार, व्यापार, प्रोन्नतियाँ, तत्काल लाभ और प्रतिस्पर्धा। फलतः रोजगार के लिए दौड़ एक तरह की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बन चुकी है। बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों में रोजगार लाभ के लक्ष्य से प्राप्त होता है। बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थानीय नहीं होते। वे राष्ट्रीय परिसीमाओं से बाहर अपना नया स्वरूप निर्मित करते हैं और बहु राष्ट्रीय दर्जा हासिल करते ही लाभ के अन्यान्य द्वार खोलने लगते हैं और इसमें ज़बर्दस्त योगदान नई तकनीकों, नये यंत्रों और द्रुत संचार साधनों का है।

ऐसे में यह आशंका एकदम अविश्वसनीय नहीं है कि द्रुत संचार साधनों, माध्यमों के मनोनुकूल विकास ने, ठहर कर पढ़ने, हृदयंगम करने, व्यक्त सत्य के साक्ष्य खोजने की शिथिल कोशिशोंके प्रति मनुष्य का अनुराग कम कर दिया है। फलतः यह डर व्यापने लगा है कि लोग अब अक्षर की ओर नहीं लौटेंगे, वे यंत्राधीन होकर यंत्र

पुस्तकों का उपयोग करेंगे। सबसे ज़्यादा खतरा नई पीढ़ी के आचरण ने पैदा किया है। वे इतने अधिक यंत्रानुरागी हो गए हैं कि मुद्रित शब्द के पास नहीं जाते। मुद्रित शब्द उन्हें केवल मार्ग संकेत जैसे प्रयोजनधर्मा कार्यों के लिए पर्याप्त लगते हैं और खतरा इसलिए बढ़ा नज़र आता है कि यंत्राधीन काम करने के कारण दूसरे किसी भी कार्य के लिए उनके पास समय नहीं है। यंत्र प्रभावित क्षेत्र ने समूचे

सामाजिकों को यंत्रानुरूप सोचने की बाध्यता से जकड़ लिया है। ऐसी स्थिति में यह आकलन भी संभव नहीं है कि उनका देहानुरागी कार्यक्रम क्या भावनाओं के अनुरूप चलता होगा कि वह भी मात्र स्वखलन के उपरान्त निश्चितता का बोधक बन गया होगा। अभी ऐसे आकलन सामने नहीं आए हैं किंतु यंत्रानुरागी जोड़ों के आचरण विस्मयकारी और इसी से कुछ ऐसे सूत्र उभरते हैं जो सिद्ध करते हैं कि कुछ लोगों की शब्दासक्ति केवल संवाद तक सीमित रह गई है। लिव इन रिलेशन की पहली बलि किताब है। शायद ही कोई जोड़ा किताब पढ़ता होगा। उनके पास पढ़ने के लिए समय तो नहीं ही है। साधन भी नहीं हैं। उनके बजट में उसका कोई अंकन नहीं है। यहाँ तक कि वे सिर्फ अपने झगड़ो के विवरण लिखते हैं। ऐसे लोग न अपने घरों से संवादरत हैं न दुनिया से, उनकी सीमित दुनिया उनका पेशा और उनका विश्राम स्थल उनका घर या कहीं डेरा या दरवा है, जिससे सपनों की बौद्धार होती है कि आने वाले कल में उनके पास दुनिया की हर चीज़ होगी। उसमें पुस्तक नहीं। नई पीढ़ी के पास 'ई बुक' है। पर वह 'ई बुक' अभी बाल्यावस्था में है। 'ई' अखबार जल्दी में सुखियाँ देखकर बासी बन पड़ता है। जल्दी-जल्दी देखने की फुर्सत भी कहाँ है ? कुल मिलाकर कमी है तो समय की। इसलिए आदमी इस तरकीब में है कि बिना श्रम किए तत्काल ज़रूरी खबरें मिल जायें बाकी तो अपने दूरभाष पर छप ही जायेंगी। अर्थात् खबरों की तात्कालिकता भी अब पलभर बाद बासी पड़ने वाली है।

यह तस्वीर उन लोगों से जुड़ी हुई है जो अतिशिक्षित हैं, मात्र साक्षर नहीं। अतिशिक्षा में प्रमाण, सबूत, संदर्भ सब उपलब्ध हैं। बस खोजने की देरी है। परंतु यह अति-शिक्षा वास्तविक शिक्षा के लोप से प्राप्त होती है। अर्थात् जब ज्ञान की गंभीर विचारणा से हट कर तकनीकी विशेषज्ञता के अहंकार में व्यक्ति विकसित होने लगता है तो उसके आचरण में यह चीज़ व्यक्त होने लगती है कि शेष ज्ञान अनावश्यक है। जैसे ही अनावश्यक होने का निष्कर्ष अपनी जगह बना लेता है वैसे ही उसका यह विवेक समाप्त हो जाता है कि समाज, राष्ट्र और विश्व पर पड़ने वाले दुष्परिणामों से वह न सिर्फ आँख मूँद लेता है बल्कि उसे लगता है इस क्षेत्र में उसे किसी भी तरह की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। विश्व में बढ़ते कम्प्यूटरीकरण और आटोमोबाइल उद्योग को ही लें। जो लोग इसमें काम कर रहे हैं वे इस बात से एकदम उदासीन हैं कि वे विश्व को सबसे ज़्यादा प्रदूषित कर रहे हैं। वे यह भी नहीं जानना चाहते कि बढ़ते आटोमोबाइल कूड़े और 'ई' कूड़े को प्राकृतिक रूप से नष्ट करने की विधियाँ बहुत मंद हैं। वे शायद दो हज़ार साल से पहले मिट्टी बनने की स्थिति में नहीं आ पायेगा। स्पष्ट है उसे नष्ट करने पर प्राकृतिक स्तर पर लाने का काम बहुत खर्चीला है। 'ई' सामग्री

तैयार करने वाली कंपनियों और आटोमोबाइल उद्योग द्वारा तैयार किये जा रहे सुविधा प्रदायी वाहनों की इकाईयाँ अभी सोच भी नहीं सकती कि कूड़े द्वारा घेरे जाने वाले 'मोबिल' यानी तैलाक्त रिसाव से या 'ई' उत्पादों के विकिरण प्रक्षेपण से होने वाली हानि का आकलन ही नहीं किया जा सकता। इस सामग्री के निकट रहने वालों के भी श्वास तंत्र में जटिलताएँ पैदा होती हैं जिनका आयुर्वैज्ञानिक अध्ययन अभी शेष है। कहने का अर्थ केवल यह है कि 'ई' बुक की आसान, द्रुत और दृष्य-श्रव्यात्मक सुविधा संपन्नता का उपयोग करने की मानसिक तैयारी में महत्वपूर्ण विवेक की जो उपेक्षा हो रही है, वह खतरनाक है।

और यह जोखिम भी बताता है कि पुस्तकों के प्रति अनुराग में घटाव आ रहा है। यह आकस्मिक नहीं है। यंत्रों के उत्पादक हर ओर से, स्थिति में व्यापक रूप के परिवर्तन देखते हुए, परिवर्तनों के पक्षों का आर्थिक दोहन करने की जिस नीति का पालन कर रहे हैं उसके मूल में पारंपरिक ज्ञान-अर्जन की पद्धति का बहिष्कार करना है। यह वैसा ही है जैसे पब्लिक स्कूलों में शिक्षार्थी को अपनी मातृभाषा, प्रान्तीय भाषा और राष्ट्र भाषा या राजभाषा के प्रयोग की रोक लगी हुई है। दुर्भाग्य यह है कि फिर भी चोरी छिपे अपनी मादरी जुबान के प्रयोग करने वाले का सार्वजनिक अपमान तथा सामूहिक बहिष्कार सामुदायिक रूप में किया जाता है।

किताबों से दूरी ने कई नुकसान किए हैं। किताब तो कागज़ से जुड़ी है। कागज़ प्राकृतिक साधनों से उत्पादित है। प्रकृति में उसका मिलना घुलना एकदम नैसर्गिक-सी चीज़ है तथापि उसके संरक्षण के द्वारा एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक का संग्राहकों की दुनिया में ज़्यादा आदर है क्योंकि उसे देखते ही इतिहास से अपने जुड़ाव का अहसास पक्का हो जाता है। परंतु वही किताब अब नये सोशल मीडिया में गई बीती संस्कृति की चीज़ है और उसके उल्लेख या दृष्टान्त की ज़रूरत सोशल मीडिया के संवाद में संभव ही नहीं है। किताब से जुड़ी हुई एक लिपि है। लिपि का अपना शास्त्र है। वाक् के उच्चारणगत वर्गीकरण लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व किए गए थे जो आज भी अतुलनीय हैं। मनुष्य शरीर से जुड़े इस वृत्तान्त के सभी विवरण प्राचीन चिन्तकों ने अपनी ही सृजित वाणी में संरक्षित किए थे। इसलिए लिपि बहुआयामी संरक्षण विधि तो है वह मानव इतिहास से जोड़े रखने वाला एक बेजोड़ सूत्र है। ऐसी ही किताब अब विज्ञासित होने वाले नये वैभवों के सामने हतप्रभ, विवश और अपनी अकाल मृत्यु के लिए स्वयं रुदन की स्थिति में है। यह आकस्मिक नहीं है। यह सिर्फ एक किताब की मृत्यु नहीं है बल्कि संस्कृति, विचार और असहमति के महत्तम मूल्य की भी मृत्यु है, क्योंकि अब एकाकृति गठन के यंत्रों का युग है और संभव है भविष्य

के यंत्र निर्माता वैसी ही ज्ञान राषि का प्रचार करें जिसकी सत्ता पर काबिज रहने वाले समुदायों को ज़रूरत रहती है।

यंत्र संस्कृति जैसे-जैसे विकास पा रही है वह नई यंत्रणाओं को जन्म देने वाला सूत्र है। नई यंत्रणाओं से तात्पर्य है कि कोई भी वस्तु उत्पादित करने वाली शक्ति को लाभान्वित किए बिना अपना सही अर्थ प्राप्त नहीं कर सकती। खासतौर से यंत्र संस्कृति के निशाने पर किताब है। इसलिए भी कि किताब अपने स्वतंत्र अस्तित्व में विमर्शों की जन्मदात्री शक्ति है। जब तक हम इन सूत्रों को नहीं समझेंगे तब तक हम अपने उन मूल प्रश्नों की आधार भूमियों को नहीं जान पायेंगे जिनसे एक स्वतंत्र विवेक जन्मता है। इसे एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। किताब अगर व्यापार की आद्य सामग्री है तो उसका विकास लाभ की दृष्टि से ही होगा। अर्थात् एक किताब में आपने किताब से धन कमाने की विधि समझाई तो दूसरा प्रतिभाषाली व्यापारी उससे संकेत लेगा कि कम खर्च किए कैसे अधिक धन कमाया जा सकता है जैसे विषय पर किताब निर्मित की जानी चाहिए यानी यहाँ तत्काल विधि में बदलाव किया गया कि अब कम धन से ज़्यादा पैसे की आमद के तरीकों पर गौर करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि किताब के केन्द्र में ज्ञान नहीं पैसा आ गया है। यही मूल आशय बना रहेगा तो किताब के खात्मे में कोई संदेह नहीं है। यह भी ऐसा तर्क है जो किताब के महत्त्व को ही रूपायित करता है किंतु किताब लोप का मुद्दा एकदम दूसरा है और उसे किताबों के ही संदर्भ में जाँचना उचित होगा। ऐसा नहीं कि ऐसे प्रयोग पहले न हुए हों।

पुस्तकें बेचने के लिए प्रकाशकों के हथकण्डों पर एक पूरा ग्रंथ लिखा जा सकता है। परंतु ज्ञान को फैलाने के काम में भी पुस्तकें अग्रणी रही हैं। हम याद करें वह समय जब अभी छापाखाना नहीं आया था। लोग सारी सामग्री को हाथ से लिखते थे और जगह-जगह वितरित करते थे। यही नहीं दूसरे के लिखे की प्रतिलिपियों की परंपरा भी पर्याप्त पुरानी है। इससे पहले की कथा तो भारतीय उपमहाद्वीप में एक ऐसी अविश्वसनीय गाथा को जन्म देती है जो स्वयं पौराणिक कथा लगती है। अर्थात् हजारों वर्ष पूर्व गुरुकुलों में रटन्त विद्या के दृष्टान्त के रूप में अनेक ऐसे शास्त्रज्ञ तैयार किए जाते थे जो संपूर्ण शास्त्र को हृदयंगम कर स्मृति के रास्ते भाष्य के रूप में प्रस्तुत करने के कार्य में सदैव आगे रहते थे। ऐसी उपस्थिति पर अविश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं तथापि संस्कृत शिक्षित जातकों में आज भी यह परंपरा विद्यमान है। कभी-कभी तो ऐसे किसी शास्त्रज्ञ को मिलकर विस्मित होना पड़ता है तथापि ऐसा व्यक्ति एकदम सामान्य आदमी की तरह अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है। तथापि लिपिबद्ध साहित्य उपलब्ध होने से पूर्व शताब्दियों तक स्मृति के सहारे ज्ञान सुरक्षित रहा है। इसको न मानने के ठोस कारण नहीं हैं। सदियों की यात्रा के सुखद अवसर बीसवीं शताब्दी में मिले जब मुद्रित पुस्तक लोकप्रियता के मानकों को तोड़ती ऐसी

संख्याओं का स्पर्श करने लगी जिन संस्थाओं को हम प्रातःकाल का समाचार पत्र पढ़ते हुए देखते हैं। इसी कारण एक भाषा से दूसरी भाषिक इकाई में हुए गति से अनुवाद के कार्य भी हुए हैं और पूरा विश्व एक समुदाय के रूप में, पूरा ग्लोब एक घर के रूप में मनोलोक में सामीप्य पाने लगा। यह चमत्कार अन्य उपादानों से भी संभव हुआ है। खासकर संगीत, फ़िल्में और टेलीविजन और विश्व सामीप्य के अनेक दृष्टान्त ऐसे रचित हुए कि इसी अहसास के अन्तर्गत कदाचित ज़्यादा मुद्रित सामग्री विश्व मानस उत्पादित करने लगा।

पुस्तक को भविष्य निधि मानकर उसकी सुरक्षा के लिए भी समय-समय पर क्रदम और नये क्रदम उठाये गए। इतिहास में ऐसे समय भी आए जब संग्रहीत सामग्री को नष्ट कर एक संस्कृति को नष्ट करने का शौर्य भी प्रदर्शित किया गया। भारत में ही नालन्दा एक ऐसा उदाहरण है जिसे आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट किया गया। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण अन्यत्र भी उपलब्ध हैं किंतु भविष्य के नागरिकों ने ऐसे कृत्यों की भर्त्सना ही की है। यही कारण है कि कालान्तर में जब साक्षरता का अनुपात बढ़ने लगा ज्ञान प्रसार के लिए सर्वोत्तम साधन पुस्तकें ही बनीं।

स्थूल रूप से कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अभूतपूर्व आविष्कारों को 'ज्ञान', संचित ज्ञान और सुरक्षित ज्ञान ने संभव बनाया है। पुस्तकों की भूमिका न सिर्फ साक्षर जनों की ज्ञान पिपासा शांत करने की रही है अपितु वैश्विक धरातल पर ज्ञान का विश्वव्यापी, धर्म निरपेक्ष, राष्ट्रीयता निरपेक्ष स्थिति का अनुभव भी पुस्तकों द्वारा ही परिपुष्ट हुआ है। यह कहना असंगत न होगा कि मनुष्य के मन में क्रांति की आग फूँकने का काम भी पुस्तकों द्वारा हुआ है। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों, चिन्तकों और विचारकों की बड़ी भूमिका है। उन्होंने न सिर्फ भविष्य दृष्टि का निर्माण किया है बल्कि अपने अतीत से भी उन तात्त्विक चीज़ों का अन्वेषण किया है जो मनुष्य जाति के लिए अब तक विलुप्त या अप्राप्त थीं। यह भूमिका पुस्तकों द्वारा ही परिपुष्ट हुई है।

पुस्तकों ने ही विज्ञान की ओर आदमी को धकेला है। बफ़लर ने अपनी पुस्तक 'न्यू वेव' में स्पष्ट लिखा है कि जितने भी आविष्कार हुए हैं वे उन्नीसवीं शताब्दी में हुए हैं और उन्होंने औद्योगिक क्रांति के समानान्तर अन्य वैज्ञानिक हलचलों से दुनिया की दशा बदलने में योगदान दिया है। सिर्फ बीसवीं शताब्दी की क्रांतियों की तरफ़ देखें तो पता चलेगा कि उनकी पीठिका का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी की ज्ञान पिपासा ने किया।

विलेंस्की, हर्जेन आदि विचारकों ने पूर्वी यूरोप, रूस और मध्य पूर्व एशिया में नये विचारों की क्रांति को संभव बनाया है जिसने

सर्वहारा के हाथों में शक्ति पहुँचाई है। आज बेशक 'व्यक्तिगत' स्वतंत्रता के धक्के से समाजवाद को ध्वस्त करने की शेखी नव उपनिवेशवाद के समर्थक करते हैं किन्तु वे भी महसूस करते हैं कि कुछ है जो केवल पुस्तकों द्वारा संभव हुआ है। यही नहीं समाजवाद ने भी पुस्तकों का सहारा लेकर विलक्षण काम किए हैं।

सर्वमान्य स्वीकृत आधार है कि लिखित शब्द ने श्रुति के विस्मयकारी प्रभाव को बहुगुणित किया है क्योंकि तमाम तरह के अनुशासनों में नया कुछ प्रस्तुत करने की बौद्धिक होड़ एक विश्वव्यापी परिघटना के रूप में अनेक शताब्दियों तक बनी रहेगी। यह अनुमान तुलनात्मक रूप से लगाया जा सकता है कि आज के द्रुत 'एलैक्ट्रॉनिक' उपकरणों ने सूचना के विराट क्षेत्र को तत्काल प्रस्तुत करने की जो सुविधा प्रदान की है वह अतीत यानी हमारी सदी के कुछ दशकों पूर्व की धीमी शोधात्मक सूचना संकलन की प्रवृत्ति के मुक्काबले कितनी सार्थक है? इसका मात्रात्मक आकलन हमारे लिए संभव नहीं है केवल इस तर्क की पुष्टि के लिए कि पुस्तकों का विकल्प 'ई' पाठ्य सामग्री नहीं हो सकती क्योंकि शोध या अनुसंधान में सामग्री से उभरने वाले प्रमाणों या निष्कर्षों को कुछ विराम या कूलिंग अवधि अवश्य दरकार होती है। उसे उत्पादन के किसी भी नैसर्गिक कालावधि के क्रम में चाहे न रखा जा सके तब भी शास्त्र के अंतर्मथन में द्रुत का हिस्सा नहीं है। क्योंकि भागम-भाग या दौड़ते हुए या अन्य किसी बौद्धिक प्रकल्प में व्यस्त होते हुए सैद्धांतिक संवादों के निष्कर्ष उतने अर्थपूर्ण नहीं होंगे। इसलिए भी कि प्रत्येक शास्त्र की सैद्धांतिक फलश्रुतियाँ अनेक अन्य संप्रेष्य निष्कर्षों को भी उत्पादित करती हैं। अतः पुस्तकें इस समूचे संदर्भ में अनिवार्य आधार सामग्री हैं। अब नये 'ई' संसार में यदि पुस्तकों की मुद्रण परंपरा का महत्त्व कम होता है तो उससे बौद्धिक जगत के ज्ञानोत्पादन पर भी प्रभाव पड़ेगा तथा हम वर्तमान संसार के वासी बहुलतावादी भी हैं, हमारी बहुभाषीय सांस्कृतिक बुनावट के छिन्न-भिन्न होने से जो दुष्प्रभाव उपस्थित होंगे वे केवल 'ई' यंत्रों के 'वायरस' रोगाणुओं से ज़्यादा भयंकर होंगे।

पुस्तक संस्कृति इस अर्थ में अब सिर्फ़ मुद्रित शब्द की संस्कृति नहीं रह गई है बल्कि वह 'ज्ञानानुशासन' की वैज्ञानिक प्रविधि है और संयोग से 'ई' अभिकर्म भी वैज्ञानिक प्रकल्प ही है किन्तु एक दूसरे के विरुद्ध आमने-सामने आकर पुस्तक और पुस्तकों के 'ई' विकल्प निश्चित रूप से 'पुस्तकों' के पारंपरिक स्वरूप को ध्वस्त करेंगे। भविष्य की ऐसी संघर्षपूर्ण स्थिति की कल्पना भी यह भय उत्पन्न करती है कि कहीं वैज्ञानिक दौड़ में पुस्तकें मिस्र की 'ममियों' की तरह कब्रों में सुरक्षित रहेंगी और आने वाले भविष्य का उनसे कोई लेना देना नहीं रहेगा।

पुस्तक संस्कृति पर नये विकल्पों का यह हमला उन व्यापारिक घरानों द्वारा प्रायोजित होगा जो विश्वव्यापी अपने व्यापार को

बढ़ाने के लिए 'गंभीरता' नामक तत्व की हत्या कर देंगे व हम पूरी तरह से इलैक्ट्रॉनिक प्रगति के बंधन में बंधने के लिए विवश रहेगे। यह हमला उन्हीं तत्वों द्वारा आज भी प्रयोग के तौर पर शुरू हुआ है। गौर करें, प्रयोग के तौर पर कहने का अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि पुस्तकों के प्रति विरक्ति कोई स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है अपितु यह एक जानी-बूझी, सोची समझी रणनीति है। इसे समझने के लिए इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के विकास की पूरी नीति भी समझनी होगी। यह तो एक सामान्य अनुभव है कि विज्ञान की खोजें सामाजिक आवश्यकताओं और प्रतिभाओं की मिली-जुली कोशिश का परिणाम हैं परंतु उन कोशिशों से निर्मित उत्पादों पर फिर न प्रतिभाओं का स्वामित्व रह जाता है और न समाज का, अपितु वे व्यापक रूप से माल उत्पादक शक्तियों के हाथ या कब्जे में आ जाता है। ऐसी शक्तियाँ वैज्ञानिक प्रतिभाओं को नयी खोजों के लिए तो प्रोत्साहित करेंगी किन्तु उसी सीमा तक जब तक उन्हें मुनाफे का ज़्यादा हिस्सा उपलब्ध होता रहेगा। और यह भावना या रणनीति माल उत्पादकों की भावी नीति का हिस्सा बन जाती है। एक छोटे से उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकती है। नये आविष्कारों से विश्व मानव की बढ़ती सुविधाओं में यह पक्ष गायब है कि उत्पादक लोग श्रम, शक्ति, ऊर्जा, स्थान अंतरिक्षीय दिक् या स्पेस का मुफ्त उपयोग तो करते हैं परंतु इन सब चीज़ों के सामुदायिक स्वामी मनुष्य को उसके परिपूर्ण हिस्से को लौटाने का कोई भी विकल्प अपने औद्योगिक साम्राज्यों में नहीं रखते क्योंकि इसकी शिक्षा भी, इसका ज्ञान भी ऐसी शक्तियाँ विश्व मानव के हिस्से में नहीं आने देते। यह समूचा ज्ञान क्योंकि पुस्तकें धीरे-धीरे विकसित करती हैं अतः पुस्तकों की उपयोगिता या ज्ञान की ज़रूरत सिर्फ़ साक्षर भर बना देने तक सीमित कर, समूची पुस्तक संस्कृति को ऐसी बदहाली की स्थिति में ला पटकें कि लोग उनकी तरफ़ देखें भी नहीं। नये इलैक्ट्रॉनिक उपकरणों के प्रयोगकर्ता अपने ज्ञान संबंधी सामग्री की मांग तो सभी विकल्पों में देखना चाहते हैं किन्तु वे इस बारे में सचेत नहीं हैं कि ज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण संरक्षिका 'पुस्तक' बची रहनी चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के अंत में ही पुस्तक संस्कृति के अंत का अनुमान उन महत्तम पत्रिकाओं, प्रकाशनों का अपने नये कार्यक्रमों में मुद्रण की गतिविधि को धीमा कर, धीरे-धीरे इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों के रूपांतरण से होता है जिन्होंने अपने कारोबारों को व्यावसायिक फायदे की दृष्टि से या विश्व कारोबार में कुछ घरानों के हस्तक्षेप से मुद्रण से जुड़े व्यवसाय को हाशिये की तरफ़ धकेलना आरंभ किया।

अभी अगर आलोक की कोई किरण बाकी है तो वह विकसनशील राष्ट्रों के पाले में है जहाँ अभी भी मुद्रित शब्द का महत्त्व कम नहीं हुआ है।